॥ श्रीहरिः ॥

271▲

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो ?

गीताप्रेस गोरखपुर
GITA PRESS, GORAKHPUR [SINCE 1923]

जयदयाल गोयन्दका

॥ श्रीहरिः ॥

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?

त्वमेव माता च पिता त्वमेव
त्वमेव बन्धुश्च सखा त्वमेव।
त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव
त्वमेव सर्वं मम देवदेव॥

जयदयाल गोयन्दका

भगवत्प्रेमकी प्राप्ति कैसे हो?

भगवान् साक्षात् प्रेमके स्वरूप हैं। प्रेमी, प्रेमास्पद और प्रेम एक ही हैं। जैसे भगवान् हुए प्रेमास्पद, भक्त हुए प्रेमी और उनका परस्परका जो सम्बन्ध है वह है प्रेम। यहाँ प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद तीन हुए। स्वरूपसे तीन होते हुए भी वास्तवमें तीनों एक ही हैं और तीनों ही चिन्मय हैं। चिन्मय प्रेम ही भगवान्का स्वरूप है। हमलोगोंका जो परस्परका प्रेम है वह उसीका प्रतिबिम्ब है। जैसे आकाशमें चन्द्रमा है और आइनेमें उसका प्रतिबिम्ब पड़ता है तो वह प्रतिबिम्ब चन्द्रमासे ही है। सूक्ष्मतासे विचार किया जाय तो वह भी एक चन्द्रमाका ही स्वरूप है। उसका आधार जो है वह असली चन्द्रमा है। इसी प्रकार संसारका परस्परका प्रेम उस परमात्माके स्वरूपभूत प्रेमका प्रतिबिम्ब है। किंतु उसका मूल कारण परमात्मा ही है। परमात्मा चेतन है, उसका स्वरूप चेतन है और यह लौकिक प्रेम जड है, किंतु यह भगवान्के उद्देश्यसे हो, भगवान्के लिये हो, निष्कामभावसे हो, भगवान्की प्राप्तिके लिये या भगवान्में प्रेम होनेके लिये

या भगवान्‌के आज्ञा-पालनके लिये हो तो जड होते हुए भी वह प्रेम चिन्मय है और भगवान्‌में है। इसलिये हमलोगोंको परस्परमें खूब प्रेम बढ़ाना चाहिये। स्त्रीका अपने पुत्रमें, मनुष्यका धनमें, कुटुम्बमें, अपने शरीरमें जो प्रेम है वह प्रेम नहीं, वह तो आसक्ति है। जो हेतुको लेकर प्रेम है, वह तो प्रेम नहीं आसक्ति है या यों कहो—वह काम है, उसका जो फल है, वह भगवत्प्राप्ति नहीं है। स्त्री, पुत्र, धन, मकान, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठामें जो प्रीति है, आसक्ति है वह बन्धनकारक है; वह तो हमारे लिये बहुत खतरेकी चीज है। उसको तो हटानेकी जरूरत है, वास्तवमें उसे प्रेम न कह करके उसे आसक्ति या काम कहा जाय तो ठीक है। किंतु जो निष्काम प्रेम है, हेतुरहित प्रेम है, भगवान्‌के लिये प्रेम है, वह दूसरे व्यक्तिमें हो तो भी वह हुआ भगवान्‌में ही। 'सबमें भगवान् विराजमान हैं' इस भावसे किसीसे भी प्रेम करना भगवान्‌से प्रेम करना है। भगवान्‌का जो प्रेम है वह तो संसारसे मुक्ति देनेवाला है, संसारसे उद्धार करनेवाला है और संसारके विषय-भोगोंके उद्देश्यसे या किसी कामनाको लेकर या स्वार्थको लेकर, आसक्तिको

लेकर, जो एक प्रकारका मोहजनित प्रेम है वह कथनमात्रका प्रेम है, वह मनुष्यका पतन करनेवाला है। उससे दूर रहना चाहिये।

अतः मान-बड़ाई और प्रतिष्ठाको ठुकराकर निष्कामभावसे आपसमें खूब प्रेम करना चाहिये, किंतु यदि प्रेमकी जगह एक-दूसरेके साथमें ईर्ष्या-द्वेष, वैमनस्य या वैर हो तो यह सब प्रकारसे खतरनाक चीज है। आत्माके लिये हानिकर है। इसीलिये भगवान्‌ने कहा—'**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव**' (गीता ११। ५५) हे पाण्डव! जो सारे भूतोंमें वैर-भावसे रहित है वह पुरुष ही मुझे प्राप्त होता है। सारे संसारके साथ प्रेम हो, किंतु एकके साथ भी वैर हो, द्वेष हो तो उसे भगवान्‌की प्राप्ति नहीं हो सकती। मान लो एक भाई मेरे सारे शरीरकी पूजा करते हैं, फूल चढ़ाते हैं, आदर करते हैं, नमस्कार करते हैं, किंतु एक अँगुलीमें कपड़ा लपेटकर किरासिन लगाकर आग लगाते हैं तो क्या मैं उनपर खुश होऊँगा। मैं कहूँगा तू क्या करता है? बोले, 'रोशनी करता हूँ, रोशनी', आप तो महात्मा हैं, आपका क्या है? हम तो आपको पूजते हैं, नमस्कार करते हैं, सत्कार करते

हैं, बारम्बार आपको प्रणाम करते हैं। मात्र एक अँगुलीको किरासिनसे भिगोकर थोड़ी रोशनी करते हैं तो हम यही कहेंगे कि हम नहीं चाहते तुम्हारी पूजाको। इसी प्रकार सारी दुनियाके साथ प्रेम हो और एकके साथमें आपका वैर या द्वेष हो तो आपके लिये वह कलंक है। भगवान् आपको नहीं मिल सकते। इसलिये सबके साथमें निष्कामभावसे प्रेम करना चाहिये या न किसीसे प्रेम, न किसीसे द्वेष अथवा 'सबकी आत्मा ही परमात्मा है' इस प्रकार समझकर सबसे प्रेम करना चाहिये। यह बड़े ऊँचे दर्जेकी बात है।

मैंने आपका अपराध कर दिया, आपको मार-पीट दिया, आपको गालियाँ दीं और आपने मेरे ऊपर दावा कर दिया। हाकिमसे हमारी बहुत दोस्ती है। उसने पूछा— क्यों भैया! तुमने मार-पीट की, गालियाँ दीं? मैंने कहा—'सच्ची बात तो यही है। आपको एकान्तमें कहता हूँ, आपको माफ करना पड़ेगा।' हाकिमने कहा कि मेरे बापकी सामर्थ्य नहीं कि मैं माफ कर दूँ। जो न्यायप्रिय हाकिम होगा वह तो कभी माफ नहीं करेगा। फिर मैंने पूछा—'और कोई उपाय है।' हाकिमने कहा—'है, जाओ जिसका तुमने अपराध किया है यदि वह राजीनामा पेश

कर दे तो हम तुम्हारे अपराधको माफ कर सकते हैं। हमारा भी अधिकार है माफ करना, न करना। किंतु जिसका तुमने अपराध किया है, वह स्वयं एक प्रकारसे यह अरजी पेश कर देवे कि हम दोनों खुश हो गये और हम अपना दावा उठा लेते हैं तो राजीनामा पेश करनेपर हम उसको स्वीकार कर सकते हैं।' उसे स्वीकार करना, न करना हमारे हाथकी बात है, इतना हम कर सकते हैं। तो खयाल यह करना चाहिये कि हमने आपका अपराध कर दिया तो संसारमें हमको अन्य कोई भी माफ नहीं कर सकता। न इस लोकमें न परलोकमें। इस लोकमें राजा, महाराजा या हाकिम माफ नहीं कर सकता, परलोकमें यमराजकी भी सामर्थ्य नहीं कि वह माफ कर सके, किंतु एक साधारण आदमी जिसका हमने अपराध किया है वह माफ कर सकता है। यदि वह माफ कर दे तो कोई भी हमें दण्ड नहीं दे सकता। इससे हमको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि किसीके साथ हमारा लड़ाई-झगड़ा हो जावे तो उससे जाकर अपना अपराध माफ करा लेवें। यह मामूली-सी बात है। आगे मामला बढ़ गया, इस गवर्नमेन्टके यहाँ तो भी मुश्किल है और लंबा

मामला भगवान्‌के यहाँ बढ़ जावे तो और भी मुश्किल। पर यहाँ तो मामूली-सी बात है। माता, बहिनों-भाइयोंसे यही कहना है कि आपलोगोंका किसीसे भी किंचिन्मात्र भी वैमनस्य हो जावे, राग-द्वेष हो जावे तो उसी समय उससे माफी माँगकर वहीं मामला खतम कर देना चाहिये। यह बात बहुत ही दामी है। स्त्रियोंमें परस्परमें कलह हो जावे, लड़ाई-झगड़ा हो जावे और उन दोनोंके बीचमें जो बरदाश्त करे, जो गम खाये, वह उन दोनोंमें श्रेष्ठ है। जिससे अपराध हो गया है वह अपने अपराधके लिये क्षमा-प्रार्थना करे तो वह भी श्रेष्ठ है और अपराध तो दूसरी स्त्रीका हो और क्षमा-प्रार्थना दूसरी स्त्री करे अर्थात् अपराध तो हुआ मेरा और क्षमा-प्रार्थना कर रहे हो आप तो आपका बहुत उच्चकोटिका महत्त्व है। इसलिये ज्यादा महत्त्व है कि बिना अपराध हुए आप माफी माँगें और परस्परमें वैमनस्यता नहीं रखें यह बात भगवान्‌के यहाँ बहुत ऊँची है।

प्रायः आपसे ऐसा कार्य होता ही रहता है, उसमें एक मार्ग ऐसा है जो कि मुक्तिको देनेवाला, दूसरा स्वर्गकी प्राप्ति करानेवाला, तीसरा नरक या स्वर्ग दोनोंको

न देनेवाला और चौथा है अधोगति देनेवाला। ये चारों बातें खूब ध्यान देकर समझनेकी हैं—जैसे मुझको आपके ऊपर क्रोध आ गया और आप कहते हो कि आपके क्रोधमें मैं कारण हो गया इसलिये मैं बड़ा अपराधी हूँ, आपको माफ करना ही पड़ेगा। आप दयालु हैं, मेरे अपराधकी तरफ आप खयाल न करके क्षमा कर दें और यह बतलाना चाहिये कि मेरी कौन-सी क्रियाके कारण आपको क्रोध आया तो भविष्यमें मैं सावधान रहूँगा, एक प्रकारसे मैं अपराधसे बच सकूँ, यह जो आपका भाव है, यह निष्काम और अहंकाररहित भाव है। इसका फल परमात्माकी प्राप्ति है। यदि ऐसा भाव मान, बड़ाई, प्रतिष्ठाके लिये है तो इस लोकमें आपकी कीर्ति होगी और मरनेके बाद आपको स्वर्ग मिलेगा, यह मध्यम श्रेणीकी बात है। और तीसरी बात यह है कि न तो आपका कोई अपराध है और न कोई आपने क्षमा-प्रार्थना की। अपराध तो मेरा है आपका कोई अपराध ही नहीं तो उस जगह आप मौन हैं, इस विषयमें न आपको पुण्य है न पाप। इससे न आपके लिये स्वर्ग है न नरक और चौथी बात यह कि आप अपनी सफाई देते हुए उसका

ही अपराध कायम कर रहे हैं। दूसरोंसे कहते हैं कि देखो साहब, यह बिना ही कारण मुझको गाली देता है, खोटी-खरी कहता है, इसका क्या अधिकार है जो यह मेरा तिरस्कार कर रहा है। यह आपके लिये बहुत ही नीचे दर्जेकी चीज है। यह व्यवहार आपका पतन करनेवाला है।

इसी प्रकारसे दूसरी श्रेणी बतायी जाती है कि मैंने किसीपर क्रोध किया और जिसपर क्रोध किया उससे प्रार्थना करें कि यह मेरा बहुत भारी अपराध हो गया। आपकी कोई गलती नहीं थी, मेरे स्वभाव-दोषके कारण मुझसे यह गलती हो गयी थी और इस गलतीके लिये आपको क्षमा करना पड़ेगा। यह मेरा कहना निष्कामभावसे है, अहंकाररहित होकर कहना है। अभिमानको त्याग करके अपने आत्माके कल्याणके उद्देश्यसे कहना है तो इसका फल मेरे लिये आत्माका उद्धार है। क्रोध करके भी मेरे लिये यह आत्माका उद्धार है। यदि यह बर्ताव मैं मान-बड़ाई-प्रतिष्ठाके लिये कर रहा हूँ कि लोग कहेंगे, वाह भाई आप बड़े अच्छे आदमी हैं। क्रोध तो आ गया परंतु अपनेको सँभाल लिया; अपराधके लिये

क्षमा माँग ली और बेचारा क्या करे। तो इस लोकमें मेरी कीर्ति होगी और मरनेके बाद उत्तम गति मिलेगी। तीसरी बात—क्रोध आनेपर मेरा अपराध है मैंने कुछ भी नहीं कहा और दूसरोंने कहा कि आपकी बड़ी गलती है, इस प्रकारसे खोटी-खरी कहने लग जाते हैं, क्रोध करने लग जाते हैं, यह आपका व्यवहार अच्छा नहीं है। गलतीको स्वीकार कर लेता हूँ तो उसका प्रायश्चित्त हो जाता है और उसका दण्ड न परलोकमें मिलेगा न यहाँ।

चौथी बात—क्रोधवश दूसरा जो मेरा अपराध कायम करना चाहता है और मैं सफाई देता रहता हूँ और उसकी बातका तिरस्कार कर देता हूँ कि नहीं मेरा अपराध नहीं, तुम्हारा ही अपराध है तो वह मेरे लिये नरकमें ले जानेवाला बर्ताव है। अतः यह खयाल रखना चाहिये कि मुझको क्रोध आ जावे तब भी मैं क्षमा माँगूँ और आपको मेरे ऊपर क्रोध आ जावे तब भी मैं क्षमा माँगूँ। मेरा ही अपराध है कि जो मुझे क्रोध आ गया। आपको क्रोध आ जावे उसका मैं अपनेको कारण मानकर अपना ही अपराध मानूँ यह बहुत ऊँचे दर्जेकी बात है, संसारमें कीर्ति बढ़ानेवाली और स्वर्गको देनेवाली है। निष्कामभावसे अहंकाररहित

होकर जो मेरा बर्ताव है वह मुक्तिको देनेवाला है।

अब दूसरे पक्षकी बात बतलायी जाती है कि मुझको क्रोध आवे तब भी मैं अपनी सफाई देता हुआ आपका ही अपराध मानता हूँ। अपराध मेरा है और मैं मानूँ अपराध आपका, आपको मेरे ऊपर क्रोध आ जावे उसमें गलती तो है मेरी, किंतु मैं अपराध बताऊँ आपका यह नरकका मार्ग है। अपराध मेरा नहीं है, वास्तवमें सच्ची बात है और मैं उसके लिये सफाई देता हूँ तो मेरा यह सफाई देना उचित है, इसका फल न नरक है न स्वर्ग। जब अपराध ही नहीं तो उसका दण्ड भी नहीं। तो हर एक माता-बहिनों, भाइयोंको यह शिक्षा लेनी चाहिये कि यदि दूसरा कोई भाई-बहिन हमपर क्रोध करे तो उसमें अपनेको ही हेतु समझकर, अपनेको अपराधी समझकर उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करे और हमें किसीपर क्रोध आ जावे उसके लिये भी उससे क्षमाके लिये प्रार्थना करे, यह मार्ग उत्तम है। यदि आपका अपराध है तो भी मैं अपना अपराध मानता हूँ और मेरा अपराध है तो मैं अपना अपराध मानूँ ही। यह सभ्यता भी है शिष्टाचार भी, बड़े ऊँचे दर्जेका बर्ताव भी है। और मुझको क्रोध

आये तब भी मैं आपका ही अपराध मानता हूँ कि मेरे क्रोधका कारण तुम हो इसलिये मूल कारण तुम हो। आपको क्रोध आता है तब भी मैं आपको ही दोषी ठहराता हूँ यह जो चाल है, यह हमारे लिये पतन करनेवाली चाल है। प्रत्येक माता-बहिनों और भाइयोंको इस विषयमें हर वक्त तैयार रहना चाहिये। अपना कसूर माननेके लिये अपना अपराध समझकर क्षमाके लिये तैयार रहना चाहिये। जो जितनी सरलता और प्रेमसे क्षमा-प्रार्थना करता है वह उतना ही ऊँचे दर्जेका है। यह बात सभी भाइयोंको, माता-बहिनोंको सीखनी चाहिये। जो संसारमें दूसरोंका दोष कायम करता है वह खुद अपराधी होकर गिर जाता है और जो दूसरोंका अपराध भी अपने सिरपर लेता है वह अपराधी होनेपर भी अपराधसे मुक्त होकर उत्तरोत्तर उन्नति करता है और शीघ्र ही परमात्माको प्राप्त कर लेता है। हमलोग— भाईलोग और माता-बहिनें सभी खयाल करके देखें कि हमलोगोंके उद्धार न होनेमें हमारी अपनी क्या गलती है, जिससे परमात्माकी प्राप्तिमें इतना विलम्ब हो रहा है। हमारे साधनकी कमी है या क्या कमी है? तो

साधनकी कमी भी है और हमलोगोंमें दूसरोंका दोष देखनेकी जो बुद्धि है यह अधिक घातक है, इससे मनुष्यका बहुत अधिक पतन हो जाता है। आप सबलोग विचार करके देखें कि हमलोग अपनी बुद्धिके अनुसार वर्षोंसे साधन करते हैं, पर उससे जितना लाभ होना चाहिये उतना लाभ नहीं होता है। क्या कारण है? तो इस विषयमें हमें गम्भीरतापूर्वक सोचना चाहिये। इसमें अपना ही अपराध समझकर भविष्यमें सुधार करना चाहिये। भगवान्के भजन-ध्यान करनेसे हमें जो लाभ होता है उससे अधिक नुकसान पाप-कर्म करनेसे और दूसरोंके प्रति घृणा-बुद्धि करनेसे होता है। मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं अच्छा हूँ और वे बुरे हैं, दूसरोंपर दोष-दृष्टि और अपने प्रति श्रेष्ठ बुद्धि, इससे मनुष्यका पतन हो जाता है। हर एक भाई और माता-बहिनोंको अपने घरमें जो चोर बैठा है इसको खदेड़कर एकदम निकाल देना चाहिये। उसको फटकार देना चाहिये कि फिर हमारे यहाँ कभी नहीं आना। काम, क्रोध, लोभ, मोह, अहंकार और राग-द्वेष बहुत-से जो अवगुण हमलोगोंमें प्रवेश किये बैठे हैं उन सबमें यह एक बड़ा भारी दोष है कि

हम दूसरोंको घृणा-बुद्धिसे देखें, द्वेष-बुद्धिसे देखें या वैरभावसे देखें या ईर्ष्या करें। यह हमारे लिये बहुत ही खतरनाक है और अपने-आपको दोषरहित अर्थात् दूसरोंकी अपेक्षा अच्छा समझें तो यह भी हमारे लिये बहुत ही खतरनाक चीज है।

मैं श्रेष्ठ हूँ, वास्तवमें अच्छा हूँ और अपनेको अच्छा मानता भी हूँ और दूसरा जो निम्न श्रेणीका है उसको नीच मानता हूँ। दोनों बात सच्ची है तो भी यह मान्यता परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाली है, परमात्माकी प्राप्तिमें विलम्ब करनेवाली है, यह हमारे इस मार्गमें रोड़ा है। यदि इन दोमेंसे एक बात जो ठीक नहीं है मैं जिसको नीच मानता हूँ वह नीच नहीं है, जिसे दोषी मानता हूँ वह दोषी नहीं है और यदि उसको मैं जान-बूझकर दोषी ठहराता हूँ तो उसका फल है घोर नरककी प्राप्ति। और बिना जाने यदि दोषी ठहराता हूँ तो भी मैं पापका भागी हूँ। किंतु यह थोड़ा पाप है, वह अधिक पाप है। मैं अच्छा न होते हुए भी अपनेको अच्छा मानता हूँ तो यह दम्भ है, पाखण्ड है, इसका फल भी नरककी प्राप्ति है। दूसरोंपर झूठा असर डालनेके लिये कि मैं श्रेष्ठ

हूँ, अच्छा हूँ, महात्मा हूँ और हूँ नहीं, यह भी एक प्रकारसे मेरे लिये बहुत ही भयानक है, मुझको गर्तमें डालनेवाला है। स्वयं अच्छा होनेपर भी दूसरोंसे घृणा नहीं करनी चाहिये। किसीके पापी होनेपर भी उसे नीच या पापी नहीं समझना चाहिये। यह हमारे लिये हित और लाभकी बात है और इसके विपरीत हमारे लिये पतनकी बात है। वास्तवमें नीचको नीच समझना और अपनेको श्रेष्ठ मानना यह हमारे लिये परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवाला है। बात सच्ची है जिसको मैं नीच समझता हूँ, वह नीच है और मैं अपनेको अच्छा समझता हूँ, वास्तवमें मैं अच्छा हूँ तो इस अच्छाईका जो फल है उससे मैं वंचित रह जाता हूँ, यही मेरे लिये पतन है। परमात्माकी प्राप्तिमें रुकावट डालनेवालोंमें यह भी एक विघ्न है। श्रद्धाकी कमी भी परमात्माकी प्राप्तिमें बाधक है। इसी प्रकारसे अपनेमें जो अच्छा होनेका अहंकार है वह भी बाधक है। अपराध न होनेपर कोई सफाई देवे तो कोई दोष नहीं है, कोई पाप नहीं। क्योंकि सच्ची बात है, सच्ची बातमें कोई पाप नहीं है, किंतु हमारे लिये शर्मकी बात है। और यह हमारे लिये बहुत उच्चकोटिकी

बात है कि कोई आदमी मुझको अपराधी माने तथा मैं अपराधी नहीं हूँ, उसकी दृष्टिसे मैं अपनेको अपराधी मान लूँ तो संसारमें मेरा गौरव है और भगवान्‌के यहाँ मेरे लिये उच्च स्थान है। इन सब बातोंको खयालमें रखकर दूसरे लोग हमें अपराधी मानें तो हम यह कहें कि भाई ऐसी बात आपकी दृष्टिमें है तो मैं क्षमा-प्रार्थना करता हूँ। उसकी वह क्षमा माँगना उच्चकोटिकी चीज है, बहुत गौरवकी चीज है ऐसी क्षमाको यदि निष्कामभावसे अपना कर्तव्य मानकर करता है, निरभिमान होकर करता है तो बड़े महत्त्वकी चीज है। अपनेको यह बात सीखनी चाहिये। दूसरोंमें दोष नहीं देखना, दूसरे पापी हैं, नीच हैं, अपराधी हैं, उनमें बहुत-से अवगुण भरे हुए हैं। हमें उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये। उसीमें हमारे लिये लाभकी बात है। दूसरेका अपराध, दूसरेका पाप, दूसरेकी आफत जो मनुष्य अपने ऊपर लेता है भगवान् उसको देख करके खुश होते हैं और जो अपना अपराध, अपना पाप और अपनी आफत दूसरोंपर डालता है, वह भगवान्‌के द्वारा त्याग दिया जाता है और उसका पतन हो जाता है। इसलिये अपना अपराध, आफत या पाप

छोटा-मोटा नहीं, बड़ा भारी पाप लगता है।

आपको एक श्रेष्ठ नयी बात बतलायी जाती है। जैसे कोई अपना बुरा करनेवाला है जिसको लोग दुश्मन कहते हैं, उसके दुःखको देखकर जो दुःखी होता है वह बड़ा उच्चकोटिका पुरुष है और उसके दुःखको देखकर जो दुःखी नहीं होता है वह निम्न श्रेणीका पुरुष है। जैसा कि कहा है—

जे न मित्र दुख होहिं दुखारी।
तिन्हहि बिलोकत पातक भारी॥

अपने मित्रको दुःखी देखकर जो दुःखी नहीं होता है वह बड़ा भारी पापी है, उसके दर्शन करनेवालेको भी पाप लगता है। मैं इससे विशेष बात कहता हूँ, जो अपने शत्रुके दुःखको देखकर दुःखी नहीं होता है वह भी कम पापी नहीं और शत्रुके दुःखको देखकर जो सुखी होता है वह तो बहुत ही नीचे दर्जेका असाधु, महान् पापी पुरुष है। मित्रोंके दुःखको देखकर तो सभी दुःखी होते हैं पर शत्रुके दुःखको देखकर भी दुःखी होना चाहिये। शत्रुको सुखी देखकर जो प्रसन्न होता है, भगवान् उसपर खुश होते हैं।

एक बात आपको रहस्यकी बतलायी जाती है, जैसे एक पार्टी हमारी है, एक पार्टी आपकी और दोनों पार्टियोंमें मतभेद है। उसमें मेरी पार्टीका यदि कसूर है तो दूसरी पार्टीसे मुझको क्षमा-प्रार्थना करनी चाहिये। हमारी पार्टीके लोग हमारे ऊपर नाराज हो सकते हैं। अपराध हमारी पार्टीका है, यह बात सच्ची होनेसे ईश्वरके यहाँ हमको कोई दण्ड नहीं मिल सकता। हम सबसे क्षमा-प्रार्थना करें तो हमारे लिये इस लोकमें गौरवकी बात है। परलोकमें हमारे लिये महान् लाभ है। दूसरी पार्टीका अपराध होनेपर भी हमें उसको दण्ड भुगताना नहीं, यह हमारे लिये गौरवकी बात है। उसका अपमान न हो, उसे नीचा नहीं दिखाना, उनके अपराधको अपराध नहीं मानना—ये अपनी पार्टीवालोंको समझाना चाहिये। यदि अपनी पार्टीका अपराध है, दूसरा सच्चा है, तो अपनी पार्टीवालेको प्रेमसे समझाना चाहिये कि अपने घरमें समझनेकी बात है, अपराध तो हमलोगोंका ही है उनका थोड़े ही है। ऐसी परिस्थितिमें उलटा हम उनका कसूर समझें तो हमारे लिये अपराधकी बात है। अपनी पार्टीका पक्ष उस अवस्थामें बिलकुल नहीं करना

चाहिये। हमारे लिये तो उस समय मौन रहना भी अपराध है और पक्ष लेना तो पाप है। उनको हर प्रकारसे समझाकर अपराधके लिये माफी माँग लेनी चाहिये। अपनी पार्टीवाले तो अपने हैं ही, दूसरी पार्टीवाले भी अपने हो जाते हैं। उससे अच्छा असर होता है। जो अपने शत्रुपर भी अपना अधिकार जमा लेता है, वह अच्छा और श्रेष्ठ पुरुष समझा जाता है। अभिमान और स्वार्थको त्यागनेसे, मनमें विनयभाव होनेसे तथा मनमें निरहंकारताके कारण यह बात होती है। यह बात सबसे बढ़कर है। मनुष्यशरीर पाकर यदि हमने ऐसा नहीं किया तो फिर हमारे लिये बहुत ही दुःख और लज्जाकी बात है। हम मनुष्य कहलाते हैं तो हमारा काम उच्चकोटिके मनुष्यके समान होना चाहिये। मनुष्योंमें भी श्रेष्ठ पुरुषोंकी भाँति हमारा काम होना चाहिये। इसीमें हमारा इस लोक और परलोकमें कल्याण है। यह असली सुधारकी बात है। बहुत दिनोंतक भजन करनेसे जिस कार्यकी सिद्धि नहीं होती, वह इसके अनुसार चलनेसे हो सकती है। मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा, अहंता-ममता, आसक्ति और स्वार्थकामनाका त्याग और साथमें विनयका

प्रेमयुक्त व्यवहार एकदम निष्कामभावसे केवल भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे करनेसे भगवत्प्राप्ति बहुत शीघ्र हो सकती है। भजन, ध्यानसे भगवत्प्राप्ति तभी होती है, जब वह निष्कामभावसे हो। सकाम भजनसे भी आत्माका सुधार और उद्धार होता है, किंतु उसमें विलम्ब होता है। सकाम भजन-ध्यान एक तरफ और निष्काम अर्थात् अभिमानरहित सबका उपकार उच्चकोटिका व्यवहार दूसरी तरफ, तो उच्चकोटिके त्यागका व्यवहार ही श्रेष्ठ होगा। जैसा कि भगवान्‌ने गीतामें बतलाया है—

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम्॥

(गीता १२। १२)

कर्मफल त्यागकर किया हुआ निष्काम कर्म श्रेष्ठ है, इससे परमशान्ति तत्काल मिल जाती है।

प्रेम और शरणागति

प्रेमका वास्तविक वर्णन हो नहीं सकता। प्रेम जीवनको प्रेममय बना देता है। प्रेम गूँगेका गुड़ है। प्रेमका आनन्द अवर्णनीय होता है। रोमांच, अश्रुपात, प्रकम्प आदि तो उसके बाह्य लक्षण हैं, भीतरके रसप्रवाहको कोई कहे भी तो कैसे? वह धारा तो उमड़ी हुई आती है ओर हृदयको आप्लावित कर डालती है। पुस्तकोंमें प्रेमियोंकी कथा पढ़ते हैं, किन्तु सच्चे प्रेमीका दर्शन तो आज दुर्लभ ही है। परमात्माका सच्चा प्रेमी एक ही व्यक्ति करोड़ों जीवोंको पवित्र कर डालता है।

बरसते हुए मेघ जिधरसे निकलते हैं उधरकी ही धराको तर कर देते हैं। इसी प्रकार प्रेमी भी प्रेमकी वर्षासे यावत् चराचरको तर कर देता है। प्रेमीके दर्शनमात्रसे ही हृदय तर हो जाता है और लहलहा उठता है। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा।
राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा।
चंदन तरु हरि संत समीरा॥

समुद्रसे जल लेकर मेघ उसे बरसाते हैं और वह बड़ा ही उपकारी होता है। भगवान् समुद्र हैं और संत मेघ। भगवान्‌से ही प्रेम लेकर संत संसारपर प्रेम बरसाते हैं और जिस प्रकार मेघका जल नदियों, नालोंसे होकर पृथ्वीको उर्वरा बनाते हुए समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, ठीक उसी प्रकार संत भी प्रेमकी वर्षा कर अन्तमें प्रभुके प्रेमको प्रभुमें ही समर्पित कर देते हैं।

प्रभु चन्दनके वृक्ष हैं और संत हवाकी तरह। जिस प्रकार हवा चन्दनकी सुगन्धिको दिग्दिगन्तमें फैला देती है उसी प्रकार संत भी प्रभुकी दिव्य गन्धको प्रवाहित करते रहते हैं। संतको देखकर प्रभुकी स्मृति आती है। अतएव संत प्रभुके स्वरूप हैं। जैसे पपीहा और किसान तो केवल मेघके ही आश्रित हैं, इसी प्रकार श्रद्धालु पुरुष भी केवल संतोंके ही आश्रित रहते हैं।

प्रेमीके वाणी और नेत्र आदिसे प्रेमकी वर्षा होती रहती है। उसका मार्ग प्रेमसे पूर्ण होता है। वह जहाँ जाता है वहाँके कण-कणमें, हवामें, धूलिमें उसके स्पर्शके कारण प्रेम-ही-प्रेम दृष्टिगोचर होता है। उसका स्पर्श ही प्रेममय होता है, स्नेहसे ओतप्रोत होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीने कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

किन्तु शोक है, हमलोगोंका प्रेम तो कांचन-कामिनी, मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है। हम तो सच्चे प्रेमके लिये हृदयमें कभी कामना ही नहीं करते। जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं होता, तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे सकती है? अभी तो हमलोगोंका कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है। अभी तो हमलोगोंका लोभी चित्त कांचनकी प्राप्तिमें ही पागल है। अभी तो हमलोगोंका चंचल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है। जबतक हमलोगोंका यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभुके प्रेमको प्राप्त भी कैसे कर सकते हैं?

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है। मानो उसका अंग-अंग बोलता है। उसके सभी अवयवोंसे मानो एक शुद्ध संकेत एक निर्मल ध्वनि निकलती है। प्रेमी उपदेश

देने नहीं जाता, वह क्या बोले, कैसे बोले? गोपियोंने प्रेमकी शिक्षा किसे और कब दी थी? भरतजीने भक्तिका उपदेश कब और किसे दिया? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेममें जिस अनन्यता और आत्मसमर्पणकी सराहना की गयी है उसकी सजीव मूर्ति गोपियाँ हैं। इसी प्रकार रामायणमें उसके प्राणस्वरूप प्रेम-मूर्ति श्रीभरतजी हैं।

यह हमारा शरीर ही क्षेत्र है। इस खेतमें कर्मरूप जैसा बीज बोया जायगा वैसा ही फल उपजेगा। बीज तो परमात्माका प्रेमपूर्वक ध्यानसहित जप है। परन्तु जलके बिना यह बीज उग नहीं सकता। वह जल है हरि-कथा और हरि-कृपा। खेतमें गेहूँ बोनेसे गेहूँ, आम बोनेसे आम और राम बोनेसे राम ही निपजेगा। हम प्रेमपूर्वक भगवान्‌के ध्यान और जपका बीज बोवेंगे तो फलरूपमें हमें प्रेममय भगवान् ही मिलेंगे। प्रेममय भगवान्‌का साक्षात्कार ही इस बीजका फल है। साधारण बीज तो धूलिमें पड़कर नष्ट भी हो जाता है परन्तु निष्काम राम-नामका वह अमर बीज कभी नष्ट नहीं होता। जल है हरि-कथा और हरि-कृपा, जो संतोंके

संगसे ही प्राप्त होती है उस हरि-कथा और हरि-कृपासे ही हरिमें विशुद्ध प्रेम होता है। अतएव प्रेमकी प्राप्तिका उपाय सत्संग ही है।

प्रभुमें हमारा प्रेम कैसा हो? श्रीरामका उदाहरण लीजिये भगवान् श्रीराम लता-पतासे पूछते हैं—'तुमने मेरी सीताको देखा है?' गोपियोंको देखिये, वे वन-वन 'कृष्ण', 'कृष्ण' पुकार-पुकारकर अपने हृदय-धनको खोज रही हैं; जितनी ही अधिक तीव्र उत्कण्ठा प्रेममें होती है उतने ही शीघ्र प्रेममय ईश्वर मिलते हैं।

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेममयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जाननेपर हम उनके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर होकर विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उनके बिना असह्य

हो जाना चाहिये।

मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें जैसा प्रेम है वैसा ही हमारा प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उनके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देता है। बनानेवाली तो गन्ध ही है। परन्तु वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी प्रकार संतलोग आनन्दमयके आनन्दकी वर्षा कर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। गौरांग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे, प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। गोस्वामीजीकी लेखनीमें कितना अमृत भरा पड़ा है। पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सबपर पूर्ण है ही, किन्तु पात्र बिना वह कृपा फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं। अतएव हमें सर्वतोभावसे भगवान्‌के शरण होना चाहिये। सर्वथा उनका आश्रित बनकर रहना चाहिये। सर्व प्रकारसे उनके चरणोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये। भगवान्‌ने कहा भी है—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो। उसकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा।'

मनसे, वाणीसे और कर्मसे शरण होना चाहिये। तभी सम्पूर्ण समर्पण होता है यानी उस परमेश्वरको मनसे भी पकड़ना चाहिये। वाणीसे भी पकड़ना चाहिये और कर्मसे भी पकड़ना चाहिये।

उनके किये हुए विधानोंमें प्रसन्न रहना, उनके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करना मनसे पकड़ना है। नामोच्चारण करना, गुणगान करना वाणीसे पकड़ना है और उनके आज्ञानुसार चलना कर्मसे यानी क्रियाओंसे पकड़ना है।

मनसे प्रभुको पकड़ना

(१) सच्चा भक्त प्रभुके प्रत्येक विधानमें दयाका दर्शन करता रहता है, प्रभु तो दया और न्यायके समुद्र हैं। परम प्रेमी और सच्चे सुहृद् तो केवल वही हैं।

उनकी दयामें न्याय और न्यायमें दया ओतप्रोत है। सब कुछ प्रभुका पुरस्कार ही है। मृत्यु भी उनकी दयाका ही चिह्न है। मयूरध्वजका पुत्र कितना प्रसन्न हुआ जब उसने यह जाना कि उसको चीरकर उसका मांस श्रीकृष्णके सिंहको परसा जायगा। भक्त तो मृत्युको भी प्रभुका प्रसाद जानकर प्रेमसे गले लगाता है। वह उसे ईश्वरका भेजा हुआ पुरस्कार समझकर उसीमें आनन्द और कल्याण मानता है। प्रभु तो बहुरूपियेके रूपमें सर्वत्र सर्वदा हमारे आस-पास, भीतर-बाहर गुप्तरूपसे विचरते हैं। जो प्रभुके तत्त्वको जान जाता है वह सर्वत्र प्रभुकी दया-ही-दयाका दर्शन करता है।

इस प्रकार शरण चले जानेपर सभी विधानोंमें आनन्द-ही-आनन्द मिलने लगता है। प्राणाधारकी लात खानेमें एक अपूर्व मिठास है। उसमें प्यारसे भी अधिक मिठास है, दिलवरकी जूतियोंमें भी एक अपूर्व रस है।

(२) दीवालपर या हृदयपर या प्रभुकी मूर्तिपर मनसे प्रभुके नामको लिखकर चिन्तन करना या मनसे जप करना प्रभुके नामका चिन्तन है।

(३) सच्चिदानन्दरूपसे परमेश्वरका सर्वत्र आकाशकी

भाँति नित्य-निरन्तर चिन्तन करना निराकार स्वरूपका चिन्तन करना है। वह विज्ञानानन्दघन परमात्मा ही अपनी योगमायासे तेजोमय दिव्य विग्रहको देवता-मनुष्य आदिकी आकृतिमें धारण करते हैं—ऐसा समझकर उनकी दिव्य माधुरी मूर्तिका चिन्तन करना प्रभुके साकार स्वरूपका चिन्तन करना है। जैसे निर्मल आकाशमें परमाणुरूपसे एवं बादल, बूँद और ओलोंके रूपमें रहनेवाले जलको जो जल समझता है वही जलके सारे तत्त्वको जाननेवाला है। वैसे ही निराकार और साकार मिलकर ही प्रभुका समग्र रूप होता है। इसी तत्त्वको भगवान्ने गीताके ७वें अध्यायमें विस्तारसे बतलाया है। इस रहस्यको समझकर ही प्रभुका चिन्तन करना असली चिन्तन करना है।

(४) प्रभु सारे सात्त्विक गुणोंके समुद्र हैं। उनमें क्षमा, दया, शान्ति, समता, सरलता, उदारता, पवित्रता अपरिमित हैं। वे ज्ञान, वैराग्य, तेज और ऐश्वर्यसे पूर्ण हैं। सारे संसारके जीवोंमें जो दया और प्रेम दीखते हैं वह सब मिलकर प्रेममय दयासागरकी दया और प्रेमके एक बूँदके समान नहीं है।

सारे संसारका तेज और ज्ञान इकट्ठा किया जाय तो

भी उस तेजोमय ज्ञानस्वरूप परमात्माके तेजके एक अंशके बराबर भी नहीं हो सकता। इसी प्रकार उनके सारे गुणोंकी विवेचना करना उनके गुणोंका चिन्तन करना है।

(५) प्रभुने महाराज दशरथजीके यहाँ मनुष्य-आकृतिमें प्रकट होकर भाइयोंके साथ नीति और प्रेमका व्यवहार करके नीति और प्रेमकी शिक्षा दी। माता-पिताकी आज्ञाका पालन करके सेवाभाव सिखलाया। दुष्टोंको दण्ड दिया तथा ऋषि, मुनि और साधुओंका उद्धार किया। बड़े त्याग और सुहृदताके साथ प्रजाका पालन किया। यज्ञ, दान, तप, सेवा, व्रत, सत्य, ब्रह्मचर्यादि सदाचारोंको चरितार्थ करके हमलोगोंको दिखलाया। इस प्रकार उनके पवित्र चरित्रोंका अवलोकन करना उनकी लीलाओंका चिन्तन करना है।

वाणीसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुके नाम एवं मन्त्रका जाप, प्रभुके गुण और स्तोत्रोंका पठन-पाठन, उनके नाम और गुणोंका कीर्तन, प्रभुके नाम, रूप, गुण, प्रेम और प्रभावका विस्तारपूर्वक उनके भक्तोंमें वर्णन करना, परस्पर भगवत्-विषयक ही चर्चा करना, विनयपूर्वक सत्य और प्रिय वचन बोलना

इत्यादि जो प्रभुके अनुकूल वाणीका व्यवहार करना है वह वाणीद्वारा प्रभुको पकड़ना है।

कर्मसे प्रभुको पकड़ना

प्रभुकी इच्छा एवं आज्ञानुसार निःस्वार्थभावसे केवल प्रभुके ही लिये कर्तव्यकर्मोंका आचरण करना। जैसे पतिव्रता स्त्री पतिके लिये ही पतिके आज्ञानुसार ही काम करती है वैसे ही प्रभुकी आज्ञाके अनुसार चलना।

बंदर अपने प्रभुको प्रसन्न करनेके लिये जैसा नाच वह नचावे वैसा ही नाचता है। बाजीगरको खुश करनेके लिये ही बंदर नाचता है, कूदता है, खेलता है और कुतूहल करता है। हम भी तो अपने 'बाजीगर'के हाथके बंदर ही हैं, फिर वह जिस प्रकार प्रसन्न हो वही नाच हमें प्रिय होना चाहिये। फूल तो वही जो चतुर-चिन्तामणिके चरणोंपर चढ़े, जीवन तो वही जो प्रभुके चरणोंमें चढ़ जाय!

कपड़ेकी चादरको जिस प्रकार मालिक चाहे ओढ़े, चाहे बिछावे, चाहे फाड़ दे, चाहे जला दे, चादर हर प्रकारसे तैयार है। ठीक उसी प्रकार भक्तको भी होना चाहिये। चाहे प्रभु भक्तको तारे, चाहे मारे; वह जिस

प्रकार चाहे रखे। फाड़ डाले चाहे जला डाले—जैसे चाहे वैसे रखे, भक्तको तो हर क्रियामें मालिकका प्यारा हाथ देखकर सदा हर्षपूर्ण ही रहना चाहिये।

हम तो प्रभुके हाथकी केवल कठपुतली हों। वह चाहे जैसा नाच नचावे। मालिककी इच्छामें ही प्रसन्न रहना हमारा परम धर्म है।

सर्वत्र ईश्वरका दर्शन करते हुए यज्ञ, दान, तप, ब्रह्मचर्य आदि उत्तम कर्मोंका आचरण करना एवं सब भूतोंके हितमें रत होकर सबके साथ विनय और प्रेमपूर्वक व्यवहार करना कर्मोंके द्वारा प्रभुको पकड़ना है।

याद रखिये, उसकी शरणमें चले जानेपर अहित भी 'हित' बन जाता है—

गरल सुधा सम अरि हित होई।

शरणमें जाकर यदि मर जाय तो वह मरण भी मुक्तिसे बढ़कर है। प्रभु कहते हैं—

जे करे आमार आस, ताँर करि सर्वनास।
तवु जे छाँड़े ना आस, ताँरे हई दासेर दास॥

अर्थात् 'जो मेरी आशा करता है मैं उसका सर्वनाश

कर देता हूँ, इसपर भी जो मेरी आशा नहीं छोड़ता उसका मैं दासानुदास बन जाता हूँ।'

उपर्युक्त प्रकारसे शरण होनेपर वह प्रभुकी कृपाका सच्चा पात्र बन जाता है और प्रभुकी कृपासे ही उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है तथा उसको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है।

अतएव हमलोगोंको संसारके सारे पदार्थोंको लात मारकर प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये। ऋद्धि-सिद्धि, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिसे भी वृत्तियाँ हटा लेनी चाहिये। यह अपार संसार एक अथाह सागर है। इसके पार जानेके दो ही साधन हैं—नावसे जाना अथवा तैरकर जाना। नाव प्रभुका प्रेम है और तैरना है सांख्ययोग यानी ज्ञान। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तैरनेकी अपेक्षा नावमें जाना सुगम, निश्चित और सुरक्षित है।

प्रेमरूपी नौकाकी प्राप्तिके लिये प्रभुकी शरण जाना चाहिये। तैरनेके लिये तो हिम्मत और त्यागकी आवश्यकता है। तैरनेमें हाथ और पैरसे लहरें चीरते हुए आगे बढ़ा जाता है। संसारसागरमें विषयरूपी जलको हाथ और

पैरसे फेंकते हुए हम तैर जा सकते हैं—उस पार जानेका लक्ष्य न भूलें और लहरोंमें हाथ-पैर न लिपटें। तैरनेके समय शरीरपर कुछ भी बोझ न होना चाहिये। इसी प्रकार विषयोंकी लहरोंको चीरकर आगे बढ़नेके लिये हमारे भीतर तीव्र और दृढ़ वैराग्यरूपी उत्साहका होना आवश्यक है। इसके बिना तो एक हाथ भी बढ़ना असम्भव है। हाथोंसे लहरें चीरता जाय, पैरोंसे जल फेंकता जाय।

सच्चे आत्मसमर्पणमें तो विषयासक्तिका त्याग अनिवार्य है ही। विषयोंमें प्रेम भी हो और समर्पण भी हो यह सम्भव नहीं।

कांचन-कामिनीसे भी अधिक मीठी छुरी मान-बड़ाई है। इसने तो बहुत ही बड़े-बड़े साधकोंको फँसा दिया, रोक दिया और अन्ततोगत्वा डुबा दिया। इससे सदा बचे रहना चाहिये।

इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि ज्ञानसे तैरनेकी अपेक्षा प्रेममयी नित्य-नवीन नौकामें जाना सुखप्रद, सहज और आनन्ददायक है।

वह विशुद्ध प्रेम प्रभुकी अनन्य शरण होनेसे ही प्राप्त

होता है, अतएव अनन्य शरण होकर जाना ही नौकासे जाना है। संसार-सागरको तो हर दशामें लाँघना ही पड़ेगा। 'उस पार' गये बिना तो प्राणवल्लभकी झाँकी होनेकी नहीं। फिर क्यों न उसीके शरणमें जाकर उसीके हाथका सहारा बनकर चले। भगवान्ने स्वयं प्रतिज्ञा भी की है—

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि सन्न्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते॥
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥

(गीता १२। ६-७)

'हे अर्जुन! जो मेरे परायण हुए भक्तजन, सम्पूर्ण कर्मोंको मेरेमें अर्पण करके, मुझ सगुणरूप परमेश्वरको ही तैलधाराके सदृश अनन्य ध्यानयोगसे निरन्तर चिन्तन करते हुए भजते हैं, उन मेरेमें चित्तको लगानेवाले प्रेमी भक्तोंका मैं शीघ्र ही मृत्युरूप संसारसमुद्रसे उद्धार करनेवाला होता हूँ।' यह संसारसमुद्र बड़ा ही दुस्तर है, इससे तरनेका सहज उपाय भगवान्की शरण ही है। भगवान्ने कहा है कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते॥

(गीता ७। १४)

'यह अलौकिक अर्थात् अति अद्‌भुत त्रिगुणमयी मेरी योगमाया बड़ी दुस्तर है। परन्तु जो पुरुष मुझको ही निरन्तर भजते हैं वे इस मायाको उल्लंघन कर जाते हैं अर्थात् संसारसे तर जाते हैं।'

अतएव हमलोगोंको प्रेम और प्रेममय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकार भगवान्‌की अनन्यशरण* होना चाहिये।

---

* अनन्ययोगसे उपासना, अव्यभिचारिणी भक्ति एवं अनन्यशरण—यह तीनों एक ही हैं।

प्रेम और समता

जिससे प्रेम बढ़ाना हो, स्वार्थ और अहंकारको त्याग कर उसके हितके कार्योंमें लग जाना ही प्रेम-वृद्धिका सर्वोत्तम उपाय है। जैसे मनुष्य अपने हितके लिये सदा सोचता रहता है, वैसे ही जिससे प्रेम करनेकी इच्छा हो उसके हितका विचार भी सदा करते रहना चाहिये।

प्रेममें स्वार्थकी गन्ध भी नहीं होनी चाहिये। जहाँ स्वार्थका भाव आया, वहीं प्रेमका टूटना प्रारम्भ हुआ। वास्तवमें स्वार्थ और अहंकार—ये दोनों ही प्रेम-मार्गमें बड़े बाधक हैं। मान लीजिये, हमने किसीके हितका काम किया और फिर यह कह दिया कि 'इसके हितसाधनमें मेरा कोई भी स्वार्थ नहीं है।' बस, इस अहंकारके उत्पन्न होते ही प्रेमकी वीणाके तार छिन्न-भिन्न होने लगते हैं। आप सेवा करके किसीको रोगादि संकटोंसे बचाते हैं—द्रव्यादिके द्वारा किसीकी विपत्तिका निवारण करते हैं। ये सभी हितपूर्ण कार्य प्रेमकी वृद्धिमें परम सहायक हैं, किन्तु आप इन सेवाओंको यदि किसीके सामने प्रकट कर देते हैं तो सब किया-कराया

मिट्टी हो जाता है। इसलिये किसीकी सेवा या उपकार करके उसे कहना नहीं चाहिये; क्योंकि अपने उपकारोंको प्रकट करनेसे अभिमानकी वृद्धि होती है और अभिमानको कोई भी सहन नहीं कर सकता। मनुष्य स्वयं चाहे अहंकारका कितना ही शिकार बना रहे, किन्तु वह दूसरेके अहंकारको नहीं सह सकता।

जरा-सी खटाई पड़ जानेपर जिस प्रकार दूध एकदम फट जाता है, उसी प्रकार उत्तम सेवारूप दूधमें अहंकारपूर्ण वचनकी खटाईके पड़ जानेपर वह सारी सेवा व्यर्थ हो जाती है। जब कि सेवा और हितसाधनके कार्य ही प्रेमके आधार हैं तो उनके व्यर्थ हो जानेपर प्रेम टिक ही कैसे सकता है? इसलिये प्रेमको बढ़ाने और उसे स्थिर बनाये रखनेके लिये निःस्वार्थ और निरभिमान होकर सबके हितमें रत रहना चाहिये।

हमलोगोंमें स्वार्थ और अहंकारकी भावनाएँ बद्धमूल हो रही हैं। वास्तवमें ये स्वार्थ और परमार्थ दोनोंहीके लिये बाधक हैं। मान लीजिये, हमने अपने किसी कष्टमें पड़े हुए मित्रको आर्थिक सहायता देकर कष्टसे बचाया और अब फिर किसी दूसरे अवसरपर किसी सज्जनके

सामने अपनी इस सेवाका बखान कर दिया। संयोगवश इन सज्जनके द्वारा यह बात उस दुःखित मित्रके पास पहुँचा दी गयी। इसका परिणाम क्या होगा? यही कि सेवा करनेवाले मित्रके प्रति दुखित मित्रका प्रेम घट जायगा और उसे इस बातका पश्चात्ताप होगा कि 'मैंने उस मौकेपर इसकी सहायता लेकर बड़ा ही बुरा काम किया।' वह अपने मनमें बार-बार यही संकल्प करके दुःखित होता रहेगा कि 'मुझे यदि यह पता होता कि वह मेरी सहायताकी चर्चा दूसरोंके सामने करके मेरे आत्म-सम्मानपर इस प्रकार आघात पहुँचायेगा तो मैं उसकी सहायताको कभी स्वीकार ही न करता।'

इस तरह हम अपने एक प्रेमी मित्रकी सद्भावनाओंसे हाथ धोकर स्वार्थदृष्टिसे अपना बड़ा भारी अहित कर बैठते हैं। इसी प्रकार अपनी सेवाओं और सत्कार्योंको अपने मुखसे गिना देनेपर हम पारमार्थिक लाभसे भी वंचित हो जाते हैं। शास्त्रकारोंका तो यहाँतक कहना है कि अपने उत्तम कार्योंको गिना देनेसे वे कर्म सर्वथा व्यर्थ हो जाते हैं। राजा त्रिशंकुने अपने मुँहसे अपने कर्मोंकी प्रशंसा की इससे वे स्वर्गसे च्युत हो गये। इसलिये

हमलोग जो भी भजन, ध्यान, सेवा, पूजा और परोपकारादि उत्तम कर्म करें, उनका बखान अपने मुँहसे हमें कभी नहीं करना चाहिये। पूछे जानेपर भी इस सम्बन्धमें मौन रहना अथवा उस प्रसंगको टाल देना ही श्रेयस्कर है। स्त्रियोंमें प्रायः यह दोष अधिकरूपसे देखा जाता है। वे सेवा आदि उत्तम कामोंको अधिकतर गुप्त नहीं रख सकतीं। पुरुष भी प्रेमको तोड़नेवाली इस बुरी आदतके कम शिकार नहीं हैं। इसलिये हम सभीको इस बातका विशेष प्रयत्न करना चाहिये कि किसीके प्रति किया हुआ उपकार किसीके भी सामने प्रकट न किया जाय। जिसका उपकार किया जाता है वह तो उस उपकारको जानता ही है, फिर दूसरोंके सामने यदि उसे प्रकट किया जाता है तो उसमें मान-बड़ाईकी प्राप्तिका भाव ही छिपा हुआ समझना चाहिये। अन्यथा डिंडिम-घोष करनेसे लाभ ही क्या है? किन्तु, हाँ, यदि किसीके प्रति किये हुए हितको जनाने और कहनेसे उस उपकृत व्यक्तिका लाभ होता हो तो उसे प्रकट करना दोष नहीं है, किन्तु ऐसे स्थल बहुत ही कम प्राप्त होते हैं। मान लीजिये, किसी सज्जनको दो सौ रुपयोंकी जरूरत है।

उन्होंने हमसे यह बात कही। हम उन्हें दो सौ न देकर केवल पचास ही दे सके, अब उनके शेष डेढ़ सौकी पूर्तिके उद्देश्यसे अपने द्वारा दिये हुए पचास रुपयोंका प्रसंग किसीके सामने चलानेको हम यदि विवश होते हैं और इससे उन सज्जनको और रुपये मिल जाते हैं तो निश्चय ही हमारा इस बातको प्रकट करना हानिकारक न होकर लाभदायक ही है; क्योंकि ऐसा करनेसे उनको दुःख न होकर उलटा सुख ही प्राप्त होता है और हमारा उद्देश्य भी मान-बड़ाईका न होकर केवल हितसाधनका ही है; किन्तु ऐसा करते समय भी हमें बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है, स्वार्थका भाव किसी-न-किसी रूपमें आ ही जाता है। इसलिये उस समय भी अपने हृदयको अच्छी तरह टटोल लेना चाहिये कि अपने द्वारा की हुई उस सेवाके प्रकट करनेमें कहीं मान-बड़ाईकी सूक्ष्म भावना तो अंदर नहीं छिपी है?

आजकल निष्कामभावका तो प्रायः अभाव-सा ही हो गया! जिधर देखिये उधर ही स्वार्थका बोलबाला है। वास्तवमें स्वार्थकी भावना निष्काम प्रेमके लिये कलंकस्वरूप है। निष्कामभावसे किया हुआ आचरण अमृतस्वरूप माना

गया है। भगवत्प्राप्तिके उद्देश्यसे यदि किसीसे भी प्रेम किया जाता है तो वह भगवान्के ही लिये समझा जाता है किन्तु यदि धन अथवा मान-बड़ाई, प्रतिष्ठा आदि सांसारिक वस्तुओंकी प्राप्तिके लिये किया जाता है तो वह उनके लिये ही है, ईश्वरके लिये नहीं।

प्रेमकी उत्पत्ति सेवासे होती है। भगवत्-प्रेमकी प्राप्ति भी सेवा और भक्तिसे ही होती है। सेवासे भी भक्तिका दर्जा ऊँचा है। सेवा तो हर किसीकी हो सकती है, किन्तु भक्ति हर किसीकी नहीं होती। भक्तिमें सेवा तो रहती ही है, पर साथमें श्रद्धा और प्रेमका भी समावेश रहता है, प्रेमका महत्त्व तो भक्तिसे भी अधिक है। प्रेम भक्तिका फल है और वह व्यापक भी है। सेवाका फल भी प्रेम ही है।

प्रेमकी प्राप्ति भक्ति और उपकारसे हो सकती है। इसलिये प्रेमके इच्छुकोंको चाहिये कि वे यथासाध्य सबके उपकार और सेवा करनेमें तत्परताके साथ लग जायँ। सेवा और उपकारमें भी अन्तर है, सेवामें तो विनयकी अधिकता और अहंकारका अभाव है, किन्तु उपकारमें अहंकारका समावेश भी है। दूसरेके हितसाधनमें

रत रहनेवालेको स्वार्थ और अहंकारका सर्वथा त्याग कर देना चाहिये। निःस्वार्थभावसे निरहंकार होकर सबकी सेवा करना ही सबके प्रेमको प्राप्त करना है। सेवक होकर यदि अपने सेवाकार्यको गिना दे, उसका अहसान कर दे तो उस सेवाकी कीमत वहीं घट जाती है— निष्कामभावमें कलंक लग जाता है। यदि सेवा निष्कामभावसे की गयी तो उसे प्रकट क्यों किया गया, प्रकट करते ही वह सकाम हो जाती है। सेवा करके उसे कह देनेपर सेवाका महत्त्व तो घट ही जाता है, किन्तु उसके साथ ही यदि यह कह दिया गया कि 'मैंने तो निष्कामभावसे सेवा की' तो उसका दर्जा और भी घट जाता है। निष्कामभाव तो हृदयमें रखनेयोग्य एक गोपनीय निधि है। वह ढिंढोरा पीटनेकी चीज नहीं।

हमलोगोंका प्रेम उच्च कोटिका नहीं, साधारण श्रेणीका है। जहाँ प्रेम होता है वहाँ नेम नहीं रहता। संकोच, भय और आदर आदिको प्रेमके राज्यमें कोई स्थान नहीं मिलता। मान-बड़ाई और संकोच आदिकी वहाँ गन्ध भी नहीं है। इन भावोंका जितना ही अभाव होता है उतना ही प्रेम अधिक महत्त्वका माना जाता है।

प्रेम, प्रेमी और प्रेमास्पद—ये तीनों वास्तवमें एक ही हैं। प्रेमास्पद प्रेमीका जितना ही निरादर करता है उतना ही वह आनन्दित होता है। प्रेमीको चाहे कितनी खोटी-खरी सुनायी जाय, कितना ही वह तिरस्कृत हो किन्तु फिर भी प्रेमास्पदके प्रति उसके मनमें अधिकाधिक प्रेम ही बढ़ता रहता है। जिसको हम बिना हिचकिचाहटके उपालम्भ दे सकें, निस्संकोच कड़ी बातें सुना सकें, वही सच्चा प्रेमी है। जिसमें प्रेमका अभाव है, वह कड़ी आलोचना या निन्दा सह नहीं सकता। मान लीजिये कि मैं किसीके सामने आपकी बुराई, आपके दोषोंकी चर्चा करूँ अथवा आपकी चीज किसीको दे दूँ या किसीके सामने आपकी जिम्मेवारी ले लूँ और आपके चित्तमें कोई विकार न हो तो समझा जाय कि आपका मुझपर प्रेम है। यदि प्रेमास्पद प्रेमीकी चीजको उसकी सम्मति लिये बिना ही किसीको दे देता है तो प्रेमीके चित्तमें आनन्द होता है। वह यह कभी नहीं सोचता कि मेरे पूछे बिना ही मेरी वस्तुका इस प्रकार उपयोग क्यों किया गया। प्रेमीको कठिन-से-कठिन काममें यदि प्रेमास्पद नियुक्त कर दे, यहाँतक कि उसकी सम्मतिके बिना उसका

बलिदान भी कर दे तो भी प्रेमी प्रसन्न ही रहता है, उसके चित्तमें इतना उल्लास होता है कि मानो उसे साक्षात् ईश्वरके दर्शन ही हो गये किन्तु ऐसा प्रेमी मिलना बहुत मुश्किल है। अस्तु'—

जिन्हें प्रेम प्राप्त करना हो उन्हें दो बातोंको भूल जाना चाहिये। दूसरेके प्रति किया हुआ उपकार और दूसरेके द्वारा किया हुआ अपना अपकार। इनका संस्काररूपमें भी मनमें रहना निष्काम भावके लिये कलंकस्वरूप है। दो बातें कभी भुलानी नहीं चाहिये—(१) हमारे प्रति दूसरेका किया हुआ उपकार और (२) अपने द्वारा किया हुआ दूसरेका अपकार। इन बातोंको जीवनपर्यन्त याद रखना चाहिये। जो हमारा उपकार करता है उसे याद रखनेसे हमारे मनमें उसका उपकार करनेकी भावना सदा बनी रहेगी, जो हमारे कल्याणमें सहायक सिद्ध होगी। हमारे द्वारा जो अपकार बन गया है उसको याद रखनेपर हमारे मनमें पश्चात्ताप होगा। पश्चात्ताप एक प्रकारका प्रायश्चित्त है जो अन्तःकरणकी शुद्धि करके हमें कल्याणमार्गमें अग्रसर करता है। उपकारके प्रति जब हम कृतज्ञ बने रहेंगे तो समय

पड़नेपर हम उस उपकारके ऋणसे मुक्त हो सकेंगे। अपने द्वारा किये हुए अनिष्टका चिन्तन रहनेसे पश्चात्तापरूपी प्रायश्चित्तके द्वारा हम पापसे मुक्त हो सकेंगे। बार-बार जन्म होनेमें दो ही प्रधान हेतु हैं—(१) पाप, (२) ऋण। जो निष्पाप और उऋण हैं वे मुक्त ही हैं।

यदि हमने किसीका उपकार करके वाणीसे प्रकट नहीं किया किन्तु मनमें संस्काररूपसे भी उसे रहने दिया तो भी निष्कामभावके लिये, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कलंकरूप ही है। इसी प्रकार दूसरेके द्वारा किये हुए अपने अपकारको भी यदि हृदयसे सर्वथा नहीं हटाया तो हमारे मनमें इस बातकी इच्छा बनी रहेगी कि उस अपकारकको किसी प्रकार दण्ड मिल जाय तो ठीक है। अतएव प्रेमकी वृद्धिके लिये मन, वाणी और व्यवहारमें निष्कामभाव तथा अहिंसा और निरहंकारताका होना बहुत ही आवश्यक है। जहाँ स्वार्थ और अहंकार होता है वहाँ प्रेम नहीं ठहर सकता।

व्यवहारमें समताके भावकी भी बड़ी आवश्यकता है। संसारमें वस्तुतः वही मनुष्य धन्य है जिसे सम भावकी प्राप्ति हो गयी है। इस भावको कार्यरूपमें परिणत

करना ही गौरवकी बात है। मनुष्यका अपने शरीरके सभी अंगोंमें आत्मीयता और प्रेमका भाव समानरूपसे रहता है। सिर, हाथ-पैर आदि शरीरके किसी भी अवयवके दुःखका अनुभव मनुष्यको समानरूपसे होता है। इसी प्रकार यदि मनुष्य सबके सुख-दुःखोंका अनुभव अपने ही सुख-दुःखोंकी भाँति करने लगे तो उसमें समताका भाव माना जा सकता है। भगवान् श्रीकृष्णने यही बात गीतामें कही है—

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः॥

(६। ३२)

'हे अर्जुन! जो योगी अपनी भाँति सम्पूर्ण भूतोंमें सम देखता है और सुख अथवा दुःखको भी सबमें सम देखता है वह योगी परम श्रेष्ठ माना गया है।'

वास्तवमें महात्मा वही है जो ब्रह्माण्डभरमें अपने आत्माको व्यापक देखता है। एक देशमें—अर्थात् केवल शरीरमें ही आत्माको सीमित समझनेवाला महात्मा नहीं—अल्पात्मा है। वह महात्माकी भाँति समस्त प्राणियोंके सुख-दुःखोंका अनुभव नहीं कर सकता।

उसमें सहानुभूति और समवेदनाका बड़ा अभाव रहता है। समदर्शी महात्माओंकी स्थितिका ज्ञान-दृष्टिसे वर्णन करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गीता ६। २९)

'सर्वव्यापी अनन्त चेतनमें एकीभावसे स्थितिरूप योगसे युक्त आत्मावाला तथा सबमें समभावसे देखनेवाला योगी आत्माको सम्पूर्ण भूतोंमें और सम्पूर्ण भूतोंको आत्मामें कल्पित देखता है।'

यह समदर्शिताकी स्थिति—यह समताका भाव भगवान्‌की कृपासे प्राप्त हो सकता है। इसलिये भगवान्‌को याद रखते हुए ऐसा भाव प्राप्त करनेकी चेष्टा करनी चाहिये।

जब भक्तिके सिद्धान्तसे विचार करते हैं तो समस्त संसारको ईश्वरका रूप समझ लेनेपर समताका भाव प्राप्त हो जाता है। श्रीतुलसीदासजी महाराजने कहा है—

सो अनन्य जाकें असि मति न टरइ हनुमंत।
मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥

वास्तवमें भगवान्‌का वही अनन्य भक्त है, जो समस्त सचराचर भूतसमुदायको साक्षात् ईश्वरका स्वरूप समझकर सबके साथ समताका व्यवहार करता है। ज्ञानकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड मेरा ही आत्मा है और भक्तिकी दृष्टिसे यह भाव रहता है कि यह सब मेरे स्वामीका ही रूप है और मैं इस समस्त भूतसमुदायका सेवक हूँ।

दोनोंमेंसे किसी एक मार्गसे भी समत्वबुद्धि प्राप्त हो जानेपर मनुष्यमें स्वाभाविक ही दया, विनय और प्रेम आदि उत्तमोत्तम गुणोंका अधिकाधिक विकास हो जाता है और उसके अन्तःकरणके राग-द्वेष आदि समस्त विकार नष्ट हो जाते हैं। ऐसे राग-द्वेषरहित समदर्शी महात्माके द्वारा जो भी व्यवहार होता है वह लोगोंके लिये आदर्श और कल्याणप्रद ही होता है। अतएव समताका भाव प्राप्त करनेके लिये निरन्तर भगवान्‌को याद रखनेकी विशेष चेष्टा करनी चाहिये।

शरणागति और प्रेम

भगवान्‌की शरणमें रहनेसे साधकको बड़ी शक्ति मिलती है। फिर उसमें दुर्गुण-दुराचार रह ही नहीं सकते। जिस प्रकार सूर्यकी सन्निधिमें रहनेवालेके पास शीत और अन्धकार नहीं फटक सकते, उसी प्रकार जिसके हृदयमें श्रीभगवान् विराजमान हैं उसके पास दुर्गुण नहीं आ सकते। यही नहीं, जिस तरह सूर्यके आश्रयसे अनायास ही गर्मी और प्रकाश प्राप्त होते हैं, वैसे ही भगवान्‌के आश्रयसे भी स्वतः ही सद्‌गुण और सदाचारकी वृद्धि होने लगती है। भगवदाश्रयका सुदृढ़ निश्चय होनेपर ही ऐसा होता है। ऐसे शरणागत भक्तको यदि कभी किसी दुर्गुणसे बाधा होगी भी तो उसके 'हे नाथ! हे नाथ!' ऐसा पुकारते ही वह दुर्गुण दूर चला जायगा। यदि निर्भरताकी कमीके कारण कभी ऐसा जान पड़े कि हमारे हृदयमें कोई कुविचार प्रवेश करना चाहता है तो हमें कातर स्वरसे 'हे नाथ! हे नाथ!' पुकारना चाहिये। प्रभुका आश्रय लेनेसे चिन्ता, भय, शोक एवं सब प्रकारके दुर्गुण-दुराचार मूलसहित नष्ट हो जाते हैं

तथा सद्‌गुण, सदाचार एवं शान्ति आदिका स्वतः ही विकास होता है।

इन सारे गुणोंकी प्राप्ति भगवच्छरणागतिसे हो जाय—इसमें तो कहना ही क्या, ये सब तो भगवान्‌के प्रेमियोंके सहवाससे भी प्राप्त हो सकते हैं। जो पुरुष भगवत्कृपाके रहस्यको समझ जाता है उसमें दया, गम्भीरता, शान्ति और सरलता आदि सद्‌गुण स्वयं ही आ जाते हैं। उसके हृदयमें आनन्दका समुद्र उमड़ने लगता है तथा दृष्टिमें सर्वत्र समताका साम्राज्य छा जाता है। हमलोग भगवद्दर्शनके लिये बहुत उतावले रहते हैं; परन्तु भगवान् कभी अपात्रको दर्शन नहीं देते। यदि हम पात्र होंगे तो हमारे सामने प्रभु आप ही प्रकट हो जायँगे। इसके लिये अनन्य प्रेमकी आवश्यकता है। जो सच्चे प्रेमी होते हैं, वे यदि कहीं भगवच्चर्चा या भगवन्नामकीर्तन सुनते हैं तो उनकी बड़ी विचित्र अवस्था हो जाती है। जैसे कामिनीके नूपुरोंकी झनकार सुनकर कामी पुरुषके हृदयमें काम जाग्रत् हो उठता है, वैसे ही यदि प्रेमीके कानोंमें भगवन्नामकीर्तनकी ध्वनि पड़ जाती है तो वह प्रेममें विभोर हो जाता है। वह यदि किसी भगवद्रसिक

महापुरुषके दर्शन कर लेता है तो उसके नेत्र गुलाबके फूलकी तरह खिल उठते हैं और उनसे झर-झर अश्रुपात होने लगता है। हमलोग तो प्रेमका केवल नाम लेते हैं। असली प्रेम तो दूसरी ही चीज है। वह सर्वथा अलौकिक और अनिर्वचनीय है। उस तक मन और वाणीकी पहुँच नहीं है। बुद्धि भी उसका स्पर्श तो करती है, परन्तु पूरा-पूरा पता नहीं लगा सकती।

जो एक बार प्रेमसे घायल हो जाता है, उसपर कोई भी औषध काम नहीं करती। हमलोगोंको निरन्तर प्रेमकी वृद्धि करनी चाहिये—यहाँतक कि उससे बाध्य होकर प्रभुको आना पड़े। प्रेमीको प्रभु त्याग नहीं सकते। प्रेमकी लोग ठीक-ठीक कदर नहीं करते। प्रेमियोंकी बड़ी आवश्यकता है। प्रेमी बहुत कम मिलते हैं—प्रायः मिलते ही नहीं। सर्वस्व समर्पण करनेपर भी यदि एक रत्तीभर प्रेम मिले तो सर्वस्व दे डालना चाहिये। सच्चा प्रेमी ऐसा ही करता है। रत्नका वास्तविक मूल्य जौहरी ही जानता है। यदि भीलनीके सामने एक लाख रुपयेका हीरा रखा जाय तो वह उसके बदलेमें चार पैसे भी देना नहीं चाहेगी, कहेगी कि यह काँचका टुकड़ा मेरे किस

कामका। परन्तु जौहरी उसके लिये खुशी-खुशी अपना सर्वस्व दे डालेगा। इसी प्रकार प्रेमका मूल्य भी कोई विरले ही जानते हैं। प्रेमके लिये जो जितना कम मूल्य देना चाहते हैं, वे प्रेमके तत्त्वको उतना ही कम जानते हैं। प्रेम तो स्वार्थत्यागसे ही मिलता है। सच्चे प्रेमी सिरकी बाजी लगाकर भी प्रभुका प्रेम प्राप्त करते हैं।

प्रेमीलोग सर्वदा वही किया करते हैं, जिससे भगवान्‌की प्रसन्नता हो। यदि उन्हें कोई भगवान्‌का प्यारा मिलता है तो उसके भजन-ध्यानादिमें सहायक होकर वे बदलेमें प्रभुकी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं। जब दो प्रेमी मिलते हैं तो एक अपूर्व आनन्दकी बाढ़-सी आ जाती है। ऐसे प्रेम-सम्मेलनको देखकर प्रभु भी उनके हाथ बिक जाते हैं। जो उनकी छोटी-सी-छोटी आज्ञाका पालन करनेके लिये अपने सर्वस्वको निछावर करनेको तैयार रहते हैं, भगवान् उनके ऋणी हो जाते हैं। इस विषयमें अतिथिप्रेमी महाराज मयूरध्वजकी कथा प्रसिद्ध ही है। जिस समय साधु बने हुए भगवान्‌की आज्ञासे राजा अपने शरीरको अपनी रानी और कुमारके द्वारा आरेसे चिरवाकर सिंहको देनेके लिये तैयार होते हैं,

उस समय उनकी यही भावना रहती है कि इस प्रकार सिंहकी तृप्ति होनेसे साधु प्रसन्न होंगे और इनकी प्रसन्नतासे भगवान् खुश होंगे। उनकी इतनी उदारता तो छद्मवेषधारी भगवान्के लिये थी, यदि प्रभु अपने निजरूपसे उनके सामने आते तो न जाने वे क्या करते। नामदेवजीके सामनेसे कुत्ता रोटी लेकर भागा तो वे उसके पीछे घी लेकर दौड़े कि 'भगवन्! अभी रोटी सूखी है, इसे चुपड़ देने दीजिये।' इस प्रकारकी भगवन्निष्ठा भगवान्को बलात् अपना ऋणी बना लेती है।

गोपियोंके विचित्र प्रेमकी बात सबपर प्रकट ही है। उद्धवजी श्यामसुन्दरका सन्देश लेकर आते हैं, उन्हें तरह-तरहसे उपदेश देकर धैर्य बँधानेका प्रयत्न करते हैं। परन्तु अन्तमें उनका अद्भुत प्रेमोन्माद देखकर स्वयं भी उन्हींके चरणकिंकर होनेकी कामना करने लगते हैं। अहा! अपने प्यारेकी यादमें कितना मिठास है? कोई पुरुष प्यारेके पाससे आता है तो हम उतावले हो जाते हैं, पहले उससे पूछते हैं 'क्यों जी, क्या तुम उससे मिले थे? उसके 'हाँ' कहनेपर हम आनन्दमग्न हो जाते हैं। फिर पूछते हैं, 'कुछ मेरी भी बात हुई थी? वह स्वीकार

करता है तो हम उछलने लगते हैं। फिर कहते हैं, 'क्या कुछ भेजा है?' वह कहता है, 'हाँ, पत्र भेजा है' तो इतना आनन्द होता है कि पत्रको लेकर स्वयं पढ़नेकी भी सामर्थ्य नहीं रहती। पत्रके ऊपर प्यारेके हाथका लिखा हुआ सिरनामा (पता) देखकर हृदयमें अपूर्व आनन्द छा जाता है। यह सब प्यारेके प्रेमकी बात है। ऐसा ही प्रेम जब प्रभुके चरणोंमें हो तो क्या कहना है?

महात्माओंसे सुना है 'भगवान् प्रेमीके अधीन हो जाते हैं।' किन्तु आज हमारी क्या दशा है? हम जगह-जगह जाते हैं, भगवान्की स्तुति और प्रार्थनादि भी करते हैं; परन्तु वे मिजाज किये बैठे हैं, आते ही नहीं। कारण क्या है?' हमारे अंदर प्रेम नहीं है। इसीसे वे खुशामद करनेपर भी नहीं आते। यदि प्रेम होता तो स्वयं वे ही हमारे पीछे-पीछे घूमते। इस विषयमें एक दृष्टान्त दिया जाता है। मान लीजिये कई मिलवाले मंदे भावमें गन्ना खरीद रहे हैं। इसी समय कोई बुद्धिमान् धनी पुरुष सोचता है कि यदि गन्नेके दाम बढ़ाकर इस प्रान्तका सारा गन्ना मैं खरीद लूँ तो पीछे इनसे मनमाना दाम ले सकता हूँ। यह सोचकर वह गन्नेका खेला करता है।

जिस समय उसके पास रुपयेमें चार आनेभर गन्ना था, मिलके मैनेजर उसके दलालसे बात भी नहीं करते थे। अब जब उसने सारा गन्ना अपने हाथमें कर लिया और मिलको उसकी जरूरत पड़ी तो साहबको चिन्ता हुई। दलाल भेजे गये तो उसने कह दिया अभी गन्ना बेचना नहीं है। साहबने स्वयं मिलनेके विषयमें पुछवाया तो कह दिया 'अभी बेचनेकी गरज नहीं है, जब गरज होगी तब मिल लेंगे।' साहब बिना बुलाये स्वयं ही आये तो उन्हें बाहर ठहराकर भोजनादिसे निवृत्त होनेपर मिले। साहब पूछते हैं, 'सेठजी! ऐसा क्या अपराध हुआ? आप तो बात करनेका भी मौका नहीं देते?' तो सेठजी कहते हैं, 'सब समयकी बात है। आपके पास कितनी बार दलाल भेजते थे, किन्तु आप बात भी नहीं करते थे; अब आपको स्वयं ही आना पड़ा। गन्ना तो आपका ही है, आपको जितना चाहिये ले जाइये।' हमारे भगवान् भी ऐसे ही हैं। वे साधारण स्तुति-प्रार्थनासे काबूमें आनेवाले नहीं हैं। उन्हें तो प्रेमकी प्यास है। हमलोग यदि प्रेम संग्रह कर लें तो उन्हें विवश होकर आना पड़ेगा। अतः जिस भावमें भी मिले उसी भावमें प्रेम खरीदना चाहिये।

यदि हमारे पास प्रेमका संग्रह होगा तो भगवान्‌का सब मिजाज ढीला पड़ जायगा। प्रेमके बिना भगवान्‌का काम नहीं चलता, उनके सब कल-कारखाने बंद हो जाते हैं। प्रेम खरीदनेके लिये भगवान्‌का नाम ही पूँजी है। इसलिये निरन्तर नाम-जपका अभ्यास करना चाहिये।

संसारमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो प्रेमके बदले न दी जा सके। तन, मन, धन, प्राण—सभी इसपर निछावर किये जा सकते हैं। प्रह्लादको देखिये। उन्हें न राज्यकी परवा है न प्राणोंकी। उन्हें तरह-तरहके कष्ट दिये जाते हैं—बार-बार मार पड़ती है, पर्वतशिखरसे गिराया जाता है, साँपोंसे डसाया जाता है, हाथियोंसे कुचलवाया जाता है, अग्निमें गिराया जाता है, तो भी वे अपनी टेक नहीं छोड़ते—प्राणोंकी बाजी लगाकर भी भगवत्प्रेमकी रक्षा करते हैं। आखिर भगवान् प्रकट होते हैं और आनेमें विलम्ब हुआ, इसके लिये प्रह्लादसे क्षमा माँगते हैं। जिस समय साधुवेषधारी भगवान्‌ने अपने सिंहके लिये मयूरध्वजसे उसका शरीर माँगा तो राजा बड़े हर्षसे कहता है, 'महाराज! आप कोई चिन्ता न करें, मैं प्रसन्नतापूर्वक यह शरीर बाघको देनेको तैयार हूँ। यह

बाघ तो साक्षात् नारायणका स्वरूप है। इनकी सेवाका सौभाग्य फिर कब प्राप्त होगा?' देखिये, कैसी ऊँची दृष्टि है! शरीरकी भिक्षा माँगनेवालेमें भी राजाको साक्षात् श्रीहरिकी ही झाँकी होती है। भगवान् ऐसे प्रेमियोंके ऋणसे किस प्रकार उऋण हो सकते हैं? हमें प्रभुकी प्राप्तिके लिये घरसे तो कुछ भी नहीं देना पड़ता। भगवान्‌की ही चीजें उनको भेंट कर देनी हैं। इसमें हमारा क्या लगता है? यह धन-ऐश्वर्य विचारवानोंकी दृष्टिमें कोई ऊँची चीज नहीं है। इसके तो त्यागमें ही सुख है। इसमें ममता करना तो अपनेको व्यर्थके बन्धनमें डालना ही है। कोई भी विवेकी पुरुष इसके मोहमें नहीं फँसते। हमारे राजपूताने प्रान्तमें एक बड़े अच्छे महात्मा थे। एक बार एक भक्त उनके लिये आसामसे एक अंडी (रेशमी चद्दर) गेरुआ रँगवाकर लाये। एक दिन वे उसे ओढ़े हुए बैठे थे कि एक पण्डितजी बोल उठे, 'बाबाजी! यह अंडी तो बहुत बढ़िया है।' बाबाजीने उसे उसी समय उतारकर पण्डितजीको दे दिया। वे बोले—'बढ़िया चीज हम साधुओंके कामकी नहीं होती। तुम्हारी इसमें प्रीति है, इसलिये अब इसे तुम्हीं रखो।

जिस वस्तुमें दूसरेका राग हो, उसे साधुको नहीं रखना चाहिये।'

गृहस्थाश्रममें भी अपने सुखकी दृष्टिसे किसी वस्तुका सेवन करना उचित नहीं है। घरमें पाँच फल आवें तो पहले अतिथि-अभ्यागत और घरके अन्य व्यक्तियोंको खिलाकर पीछे गृहस्वामीको खाना चाहिये और उसके बाद गृहस्वामिनीको। यही यज्ञशिष्ट है। यह अमृत है। जो स्वादके लोभमें पड़कर पहले स्वयं खाता है, वह अमृतके भ्रमसे विष सेवन करता है। बलिवैश्वदेवका भी यही रहस्य है। ऐसा ही नियम साधु-संन्यासियोंके लिये भी है। जब रसोईघरका धूआँ बंद हो जाय, उस समय उन्हें भिक्षाके लिये जाना चाहिये, जिससे कि उनके निमित्तसे गृहस्थको अलग भोजन न बनाना पड़े। उस समय भी यदि किसी द्वारपर पहलेसे दूसरा भिखारी खड़ा हो तो वहाँ न जाय। ऐसा न हो कि दोनोंको देनेसे फिर गृहस्थके लिये अन्नकी कमी हो जाय। इन सब नियमोंमें शास्त्रका लक्ष्य क्या है, उसपर विचार करना चाहिये। इन सभीमें स्वार्थत्यागकी भावना भरी हुई है। यदि कोई चीज बाँटकर खानी है तो उसमें भी अपने

लिये अधिक रखनेकी प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये। बहुत-से लोग मुखसे तो कहते रहते हैं कि हमारा कुछ नहीं है, सब भगवान्‌का ही है, परन्तु चित्तसे एक-एक तिनकेको पकड़े रहते हैं। यह कहनेका त्याग भी अच्छा है, परन्तु वास्तविक लाभ तो सच्चे त्यागसे ही होता है। जो समय पड़नेपर अपना सर्वस्व प्रभुके लिये निछावर करनेको तैयार रहते हैं वही श्रेष्ठ हैं। जो सच्चे दानी होते हैं, उन्हें तो दान देनेका कोई अभिमान ही नहीं होता। कहते हैं, किसी दानीके दानकी प्रशंसा की गयी तो वह रोने लगा। उससे रोनेका कारण पूछा गया तो वह बोला, 'धन उसका, देनेवाला वह, मैं तो केवल निमित्तमात्र हूँ। लोग मुझे दानी कहते हैं, भला मैं प्रभुके सामने क्या मुँह दिखाऊँगा?'

अतः यदि भगवत्प्राप्तिकी इच्छा है तो वास्तविक त्याग कीजिये। हृदयसे अपना सर्वस्व प्रभुका समझिये। प्रभुके लिये ही सारे काम कीजिये। ममता, अहंता और आसक्तिको जड़से उखाड़ डालिये। इस प्रकार यदि आपकी सारी चेष्टाएँ प्रभुके ही लिये होंगी और आप अपने तन, मन, धन सबकी सार्थकता प्रभुकी प्रसन्नतामें

ही समझेंगे, प्रभुकी प्रसन्नताके लिये उनके त्यागमें तनिक भी संकोच नहीं करेंगे तो प्रभुको विवश होकर आपकी खुशामद करनी होगी। ऐसी बात होनेपर भी आपको तो प्रभुकी ही प्रसन्नतामें प्रसन्न रहना चाहिये, उनसे अपनी खुशामद करानेकी इच्छा रखना भी एक प्रकारका स्वार्थ ही है।